योग और मन

☐ सुरेश मुनि शास्त्री

मन ही मनुष्य है

मनुष्य कहाँ रहता है ? निवास-स्थान कहाँ है मनुष्य का ? यह एक चिरन्तन प्रश्न है। उत्तर में कहना होगा : मनुष्य अन्यत्र कहीं नहीं रहता, मनुष्य रहता है अपने मन में। बुद्ध का वचन है : भिक्षुओ, मनुष्य मन में रहता है।[१] जैन-परम्परा के मनीषी आचार्यों का स्पष्ट आघोष है—जो मन में सोता है, रहता है, वह मनुष्य है।[२]

वस्तुतः मनुष्य है ही वह, जिसके पास मन है। मनुष्य का अर्थ है मन वाला—विशिष्ट मन वाला। विशिष्ट मन से ही तो मनन होता है, जिसके आधार पर मनुष्य को मनुष्य कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है।[३] "दूरगामी परिणाम को सोच-समझ कर कार्य करने वाले ही मनुष्य हैं।"[४] प्राचीन ऋषि का यह संकेत इसी दिशा में है।

मनुष्य इसलिए मनुष्य नहीं कहलाता कि वह मनु का पुत्र है। मनुष्य इसलिए मनुष्य कहलाता है कि वह अपना मानस-पुत्र है—अपने ही मन का बेटा है। मनुष्य मन की उपज है। मन से ही मनुष्य का सृजन होता है। मन ही मनुष्य का ब्रह्मा है, सिरजनहार है।[५]

मन मनुष्य-जीवन का एक ऐसा मध्य-बिन्दु है, जिसे केन्द्र बनाकर मनुष्य का समग्र जीवन-चक्र उसके इर्द-गिर्द घूमता है। मनुष्य-जीवन का वास्तविक आकलन एवं मूल्यांकन मन के द्वारा ही होता है—मनुष्य-जीवन का यह केन्द्रीय तथ्य है। मन और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र को काल के किसी भी आयाम में विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जैसा मन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है, यह एक सनातन सत्य है। "जैसा मन, वैसा जीवन"—मन और जीवन का यह पारस्परिक सहयोग एक सजीव भाष्य है। मन मैला तो जीवन मैला, मन उजला तो जीवन उजला। मन अशांत तो जीवन अशांत, मन शांत तो जीवन शांत। मन अस्थिर तो जीवन अस्थिर, मन स्थिर तो जीवन स्थिर। मन दुःखी तो जीवन दुःखी, मन सुखी तो जीवन सुखी। मन असंयत तो जीवन असंयत; मन संयत तो जीवन संयत। मन अनियन्त्रित तो जीवन अनियन्त्रित, मन नियन्त्रित तो जीवन नियन्त्रित। मन आसक्त तो जीवन आसक्त, मन विरक्त तो जीवन विरक्त। मन रागी तो जीवन रागी, मन वीतरागी तो जीवन वीतरागी। मन रोगी तो जीवन रोगी, मन नीरोगी तो जीवन नीरोगी। मन भोगी तो जीवन भोगी, मन योगी तो जीवन योगी।

सच तो यह है कि मन ही मनुष्य है। मन के अतिरिक्त मनुष्य अन्य कुछ भी नहीं है।[६] मनुष्य के जीवन की रूप-रचना करने वाला मन मनुष्य के भीतर ही बैठा है; जो उसके जीवन की विविध रूप-रचना कर रहा है। जैसा मन का रंग, वैसा बाह्य जीवन का ढंग।[७] मनुष्य के उत्थान-पतन तथा ह्रास-विकास का राजप्रासाद मन की आधार-शिला पर ही स्थित है।

मन एक विचित्र पहेली है

स्पष्ट है कि मन मनुष्य के लिए एक विचित्र पहेली है। मन मनुष्य का गौरव भी है और मन मनुष्य का रौरव भी है। मन मनुष्य का मान-महत्व भी है और मन मनुष्य का अवमूल्यन-पतन भी है। मन मनुष्य के लिए वरदान भी है और मन मनुष्य के लिए अभिशाप भी है। मन मनुष्य के लिए अमृत भी है और मन मनुष्य के लिए हलाहल विष भी है। मन मनुष्य के लिए जीवन भी है और मन ही मनुष्य के लिए मृत्यु भी है। मन मनुष्य के लिए सुख का मूल बिन्दु भी है और मन ही मनुष्य के लिए मर्मान्तक पीड़ा भी है। मन मनुष्य के लिए दुःख का प्रबलतम कारण भी है और मन से ही मनुष्य को शाश्वत सुख उपलब्ध होता है।[८] मन के कारण ही मनुष्य सर्वोपरि है, सब प्राणियों में श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ है, सबसे ऊँचे सिंहासन पर अधिष्ठित है[९] और मन के ही कारण मनुष्य पशुतर है—पशु से भी गया-बीता

है। मन मनुष्य के लिए सबसे बड़ा बन्धन भी है और मन ही मनुष्य के लिए मोक्ष का द्वार है।[१०] मन के कारण ही आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता और मन से ही मनुष्य को मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।[११]

योग और मन : परस्पर एक-दूसरे के पूरक

कहने की आवश्यकता नहीं कि मन की यह पहेली विचित्र अवश्य है, किन्तु अनबूझ तथा अनुत्तरित नहीं है। इस पहेली का उत्तर एवं समाधान सम्भव है। योग मन की इस पहेली का सही उत्तर एवं समुचित समाधान प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः योग और मन परस्पर अनुस्यूत हैं, अत्यन्त गहरे में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। योग का आधार है मन और मन का समाधान है योग। इस प्रकार योग और मन परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। मन की वृत्तियों का निरोध योग है।[१२] मन की एकाग्रता एवं स्थिरता ही योग का प्रथम उद्देश्य है। वृत्तियों की चाप से मन चंचल एवं अस्थिर होता है और चंचल तथा अस्थिर मन ही दुःख का मूल कारण है। जीवन के सारे ताप-आताप-संताप चंचल मन से ही उपजते हैं। जीवन की सारी अशांति, आकुलता-व्याकुलता, अव्यवस्था, अस्तव्यस्तता, विश्रृंखलता, अराजकता तथा तनावपूर्ण स्थिति मन की चपलता एवं अस्थिरता से ही उत्पन्न होती हैं। योग निग्रह एवं निरोध के माध्यम से मन के भीतर से विष-तत्त्व खींच लेता है और स्वस्थ, सुन्दर, स्थिर, शांत तथा अमृतोपम मन का सृजन करता है—मनुष्य के लिए अमृत का द्वार खोल देता है।

अधोवाही मन दुःख को निमन्त्रण देता है

मनुष्य का मन उभयवाही है—अधोवाही भी और ऊर्ध्ववाही भी। जब मनुष्य का मन अधोवाही होता है, मन की शक्ति का प्रवाह नीचे की ओर बहता है, संसार के क्षुद्र भोगों की ओर बहता है, माया-मोह की ओर बहता है, भौतिक पदार्थों और पार्थिव एषणाओं-लालसाओं तथा कामनाओं-कल्पनाओं की ओर बहता है, यश-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान की ओर बहता है तो मनुष्य जीवन के वास्तविक लक्ष्य से भूल-भटक जाता है। सांसारिक पदार्थों की उपलब्धि और भोगों की प्राप्ति ही उसके जीवन का एकमात्र ध्येय बन जाता है। फलतः वह पतन के गहरे गर्त में गिर जाता है। अधोवाही मन मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाता है, नरक की ओर ले जाता है, दुःख को निमन्त्रण देता है, पीड़ा देता है, ताप-आताप-संताप की आग में जलाता है। मनुष्य का समग्र जीवन दुःख और पीड़ा से भर जाता है। क्षण-भर का सुख-भोग और चिरकाल का दुःख कितना भयावह परिणाम है इन भोगों का।[१३]

योग मन को नयी दिशा देता है

संसार की सारी नदियाँ एकमुखी हैं—एक ओर को बहती हैं। किन्तु मनुष्य के मन की नदी उभयमुखी है, दोनों ओर को बहती है। वह कल्याण-पुण्य की ओर बहती है और पाप की ओर भी बहती है।[१४] शुभ की ओर भी बहती है, अशुभ की ओर भी बहती है, धर्म की ओर भी बहती है, अधर्म की ओर भी बहती है, संसार की ओर भी बहती है, मोक्ष की ओर भी बहती है, नीचे की ओर भी बहती है, ऊपर की ओर भी बहती है, बाहर की ओर भी बहती है, भीतर की ओर भी बहती है।

योग मन की नदी के बहाव को गलत दिशा से एक नयी और सही दिशा की ओर मोड़ देता है, मन के अधोवाही शक्ति-प्रवाह को ऊर्ध्ववाही बना देता है, अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी कर देता है। दिशा बदलने से शक्ति का बहाव अन्तर्मुख हो जाता है। अतः वह अब बाहर की ओर न बहकर भीतर की ओर बहता है, आत्मा की ओर बहता है, परमात्मा की ओर बहता है, मोक्ष की ओर बहता है, संयम-तप की ओर बहता है, त्याग-वैराग्य की ओर बहता है, ध्यान-समाधि की ओर बहता है। यह मन की शक्ति का ऊर्ध्वीकरण है। मन की शक्ति के इस ऊर्ध्वीकरण का नाम ही योग है।

मनुष्य के मन की शक्ति का मूल-स्रोत जब किसी उच्चतम ध्येय तथा पवित्रतम आदर्श के लिए प्रवाहित होता है तो आत्मा के लिए श्रेय का द्वार खुल जाता है। मन की शक्ति का यह अन्तर्मुखी बहाव जीवन में सुख लाता है, स्वर्ग लाता है, आनन्द लाता है, मोक्ष लाता है। शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं, केवल दिशाएँ भिन्न हैं। मात्र अधोगमन और ऊर्ध्वगमन का अन्तर है। सीढ़ियाँ वही हैं। जिस व्यक्ति का मुँह नीचे की ओर है, वह नीचे पहुँच जाता है और जिसका मुख ऊपर की ओर होता है, वह ऊपर चढ़ता जाता है, शिखर पर पहुँच जाता है। शक्ति का बहाव किस ओर है—सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है। शक्ति का अधोगमन भोग है और ऊर्ध्वगमन योग।

योग मन का कायाकल्प करता है

योग एक अध्यात्म-साधना है, दुःख से मुक्त होने के लिए। योग एक अन्तर्यात्रा है, भीतर अपने आप तक पहुँचने के लिए। योग एक धर्मकला है, चंचल एवं अस्थिर मन को साधने के लिए।

इतना तो सुनिश्चित है कि वर्तमान स्थिति में जैसा मनुष्य का मन है, इस मन को लेकर साधना की इस अन्तर्यात्रा पर नहीं चला जा सकता। पुराने गले-सड़े और जीर्ण-शीर्ण मन के साथ आत्मा की ओर, परमात्मा की ओर, मोक्ष की ओर गति नहीं हो सकती। क्योंकि, प्रस्तुत चंचल, अस्थिर, अशांत, असंयत, भोगासक्त एवं विकारयुक्त मन आत्मा को परमात्मा तथा मोक्ष से जोड़ता नहीं, तोड़ता है। साधना की इस अमृत-यात्रा पर चलने के लिए साधक को एक नया—नितान्त नया मन चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि वह नया मन योग से उत्पन्न किया जा सकता है। योग-दर्शन के मनीषी एवं चिन्तनशील आचार्यों ने योग के रूप में, मनुष्य के भीतर नया मन निर्मित करने की एक अद्भुत रसायन की खोज की है। योग से मन को रूपान्तरित किया जा सकता है। योग मन के रूपान्तरण की एक बृहत्तर परियोजना है। योगाभ्यास मन को परिवर्तित करने का एक आध्यात्मिक अभियान है। यह यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टांग योग की व्यवस्था[१५], आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला तथा विकारों का क्षय करने वाला धर्म-व्यापार[१६]—मनुष्य के भीतर नया मन निर्मित करने का एक अनुपम उपक्रम तथा अध्यात्म-आयोजन ही तो है।

सच तो यह है कि योग मानव-मन का पूरी तरह कायाकल्प करता है। जैसे कल्प के माध्यम से शरीर का पूर्णतः रूपान्तरण, परिवर्तन एवं कायापलट हो जाता है, पुराने शरीर के स्थान पर एक नये शरीर का सृजन हो जाता है, त्वचा, मांस, मज्जा, रक्त तथा रोमराजि आदि सब शारीरिक तत्त्वों का पूर्णतया नवीकरण और पुनर्निर्माण हो जाता है; इसी प्रकार सतत योगाभ्यास से मनुष्य के मन का आमूल परिवर्तन हो जाता है। योग पुराने मन के स्थान पर एक नया, स्फूर्त, स्थिर, शांत, संयत, अनासक्त एवं निर्मल मन निर्मित कर देता है। इस नये मन को लेकर ही साधक अपनी साधना की अन्तर्यात्रा पर आगे बढ़ सकता है और आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

योग दुःख से मुक्त होने का उपाय है

मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—दुःख से मुक्ति, बन्धन से मुक्ति, वासना से मुक्ति। दुःख से मुक्त होना परम पुरुषार्थ है।[१७]

मनुष्य का भोगासक्त, वासनायुक्त एवं संसाराभिमुख, चंचल एवं अस्थिर मन जो दुःख अर्जित कर लेता है, उससे मुक्त होने का मार्ग भी मन से ही प्राप्त होता है।[१८] दुःख की गहन अनुभूति एवं गहरी प्रतीति से ही मुक्ति की खोज प्रारम्भ होती है। दुःख का आत्यन्तिक बोध होने पर व्यक्ति का उसमें रहना और जीना असम्भव हो जाता है। घर में लगी आग को व्यक्ति अपनी खुली आँखों से भलीभाँति देख ले, जान ले तो उसकी समग्र चेतना उस आग से भाग निकलने का उपाय खोजने में संलग्न हो जाती है और वह उपाय खोज लेती है। गहरी अनुभूति एवं प्रतीति से ही उपाय निकलता है। जिसने गहरे मन से दुःख का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है तो योग उससे मुक्त होने का द्वार बन सकता है। दुःख से योग फलित होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में, जैन-परम्परा का एक प्रसिद्ध एवं हृदयस्पर्शी आख्यान है। राजकुमार मृगापुत्र को जब भीतर बहुत गहरे तक यह प्रतीति होती है कि यह समग्र संसार दुःख की आग में जल रहा है तो उसकी अन्तरात्मा एकदम छटपटा उठती है और दुःख की उस आग से बाहर निकलने के लिए उसकी समग्र चेतना पूरी तरह जाग्रत हो जाती है। वह अपनी माता से विनम्र एवं साग्रह निवेदन करता है—"माँ, मुझे आज्ञा दीजिए। जन्म, जरा और मरण की आग में जलते इस संसार से मैं आत्मा को पार ले जाना चाहता हूँ, इससे मुक्त होना चाहता हूँ।"[१९]

दुःख का यह आत्यन्तिक बोध ही उसके लिए उपाय की खोज बन गया; और, माता की आज्ञा उपलब्ध होते ही, वह राजकुमार तत्काल छलांग लगा गया—योगी बनकर दुःख से पार हो गया।

संक्षेप में, योग एक विधि है, दुःख की आग से बाहर निकलने के लिए। योग एक अमोघ साधन है, दुःख से त्राण पाने के लिए। योग एक नौका है, दुःख से पार जाने के लिए। योग एक युक्ति है, दुःख सागर को तैरकर पार उतरने के लिए।[२०] योग एक तीक्ष्ण कुठार है, जीवन की समस्त आपदा-विपदाओं का समूल उन्मूलन करने के लिए।[२१] दुःख के साथ जो मनुष्य के जीवन का संयोग है, उससे वियुक्त होने का नाम ही तो योग है।[२२] योग के माध्यम से प्राप्त मनोनिग्रह एवं निरोध ही इस संसार के दुःख से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।[२३] मन के निग्रह तथा निरोध से दुःख शांत हो जाता है।[२४]

योग से निरोध फलित होता है

मनुष्य का मन चंचल है, अस्थिर है—यह एक निर्विवाद तथ्य है। योग चंचल एवं अस्थिर मन को एकाग्र तथा स्थिर करने का सर्वोपरि साधन है। वृत्तियों का निरोध योग है। योग से निरोध फलित होता है।

योग की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि चंचलता मन का स्वभाव नहीं है। यदि चंचलता मन का स्वभाव होता तो उसके निरोध, निग्रह एवं स्थिरता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि स्वभाव को कभी बदला नहीं जा सकता। मन का अपना स्वभाव चंचलता नहीं, स्थिरता है। चंचलता तो ऊपर की बात है। कमल के पत्ते पर पानी कितना चंचल एवं अस्थिर प्रतीत होता है। वह प्रतिक्षण यहाँ-वहाँ थिरकता रहता है। कहीं टिकता और ठहरता ही नहीं। किन्तु चंचलता एवं अस्थिरता क्या पानी का अपना निजी स्वभाव है? गहराई से देखा जाए तो पानी तो ठहरने के लिए स्थिरता खोज रहा है। उसकी चंचलता, स्थिरता खोजने के लिए है। अपना अभीप्सित स्थान उपलब्ध होते ही, वह स्थिर हो जायेगा। इसी प्रकार मन भी अपनी स्थिरता ढूंढ़ने के लिए चंचल प्रतीत हो रहा है, इधर-उधर उड़ता-दौड़ता दिखायी दे रहा है। अपना स्थान मिलते ही वह भी वहीं स्थिर हो जायेगा, ठहर जायेगा।

कहना न होगा कि पानी और मन की चंचलता अकारण नहीं, सकारण है। पानी कमल के पत्ते के कारण चंचल लग रहा है और मन वृत्ति की चाप एवं वासना के वेग से चपल प्रतीत हो रहा है। मन के पटल से ज्यों ही वृत्तियाँ विसर्जित होती हैं अथवा वृत्तियों का निरोध और वासना का विसर्जन होता है, त्यों ही मन अपने स्थिर स्वभाव में आ जाता है। मन की वृत्ति तथा वासना जितनी तीव्र होगी, मन का कम्पन एवं चांचल्य भी उतना ही तीव्र होगा और मन की वृत्ति जितनी शांत होगी, मन की चंचलता का वेग भी उतना ही शांत हो जाता है। वृत्ति की चाप और वासना के अन्धे वेग से मनुष्य का मन चंचल बनता है, इधर-उधर, आगे-पीछे तथा ऊपर-नीचे होता है। वृत्ति का निरोध होने पर मन की चंचलता स्वयं विलीन हो जाती है, अपने आप मिट जाती है। घर के भीतर कमरे में एक दीपक जल रहा है। यदि उसे हवा का झोंका न लगे तो वह अकंप-अडोल जलता है। उसकी लौ नहीं कंपती। निर्वात स्थान में दीपक की लौ अखण्ड रूप से जलती है। किन्तु हवा के झोंके से दीपक की लौ कंप जाती है, अस्थिर हो जाती है। इसी प्रकार वृत्ति के आघात और वासना के अंधे वेगों के धक्के लगने से मनुष्य का मन डावांडोल हो जाता है। यहाँ-वहाँ, आगे-पीछे दौड़ता-भागता है। वृत्तियों और वासनाओं से मुक्त मन चंचलता के भय से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वृत्तियाँ और वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक मन शांत एवं स्थिर नहीं हो सकता।[२५] दीपक की लौ को अकंप एवं स्थिर होने के लिए वायु-रहित स्थान चाहिए और मन को स्थिर तथा शांत होने के लिए वृत्तियों का निरोध और वासनाओं का क्षय नितान्त आवश्यक है।

इसी दृष्टि से मन की वृत्ति के निरोध को योग कहा गया है। योग से ही निरोध फलित होता है।

मनोनिरोध के दो उपाय : अभ्यास और वैराग्य

मन की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।[२६] अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है।[२७] जैसे एक पहिए से गाड़ी नहीं चल सकती और एक पंख से पक्षी अनन्त आकाश में उड़ान नहीं भर सकता; इसी प्रकार केवल अभ्यास अथवा वैराग्य के द्वारा मन की समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। अभ्यास तथा वैराग्य दोनों से ही मन की वृत्तियों का निरोध सम्भव है। वैराग्य के द्वारा मन का बहिर्मुख-प्रवाह निवृत्त होता है और अभ्यास से वह आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह में स्थिर हो जाता है।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने अपने योग-भाष्य में इसी तथ्य को एक सुन्दर रूपक के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है—"चित्त एक नदी के समान है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं। एक धारा संसार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण-सागर की ओर। पूर्वजन्म में जिन व्यक्तियों के संस्कार संसारी विषय-भोगों को भोगने के रहे हैं, उनके मन की वृत्तियों की धारा विगत संस्कारों के फलस्वरूप दुःख-सुख रूपी विषम-मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है और जिन व्यक्तियों ने कैवल्यार्थ आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए काम किये हैं; तो विगत संस्कारों के परिणामस्वरूप उनके मन की वृत्तियों की धारा विवेक-मार्ग से बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है। विषयासक्त व्यक्तियों की पहली धारा जन्म से ही खुली रहती है और दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, धर्माचार्य तथा ईश्वर-चिन्तन खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए वैराग्य का बाँध लगाया जाता है और अभ्यास के फावड़ों से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोद कर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में डाल दिया जाता है तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याण-सागर में विलीन हो जाता है। जैसे किसी नदी के बाँध से दो नहरें निकलती हैं, तो एक नहर में तख्ता डालकर, उसके जल-मार्ग को रोककर दूसरी नहर में जल छोड़ देते हैं, तो पहली नहर सूख जाती है, इसी तरह अभ्यास तथा वैराग्य से दुःखदायी वृत्तियों को सांसारिक विषयों से मोड़कर कल्याण-सागर में ले जाते हैं।"[२८]

मनोरोध के सन्दर्भ में, अभ्यास और वैराग्य का आधार यह है कि मनुष्य के मन में संपरिवर्तन लाया जा सकता है; मन की वृत्तियों को रूपान्तरित किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि वर्तमान स्थिति में जैसा मनुष्य का मन है, वह उससे भिन्न हो सकता है, उसे परिवर्तित किया जा सकता है। परिवर्तन से मन की समूची स्थिति सँवर-सुधर सकती है और मन में स्थिरता आ सकती है।

वास्तव में, अभ्यास एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रशिक्षण है। मनुष्य का मन प्रशिक्षण का पुतला है। उसे जैसा प्रशिक्षण दिया जाय, वह वैसा ही हो जाता है। भोग के प्रशिक्षण से मन भोगी तथा चंचल और योग के प्रशिक्षण से मन योगी तथा स्थिर हो जाता है। समता, सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, शौच, सत्य, संयम, तप, स्वाध्याय, त्याग, वैराग्य, ज्ञान और ध्यानरूपी सद्‌अभ्यास मन को रूपांतरित करने का एक प्रशिक्षण ही तो है। ज्यों-ज्यों सद्‌अभ्यास से मन की स्थिरता होती जाती है; त्यों-त्यों प्राण, वचन, तन तथा दृष्टि में भी स्थिरता आती जाती है।[२९] अभ्यास का अर्थ है मन की स्थिरता के लिए यत्न करना।[३०] मन की स्थिरता के लिए बार-बार प्रयास करने का नाम ही अभ्यास है।[३१] अदम्य उत्साह एवं पूरी आस्था के साथ चिरकाल तक निरन्तर प्रयास करने से ही अभ्यास परिपुष्ट एवं दृढ़ होता है।[३२]

अभ्यास के साथ वैराग्य का विधान मन की दौड़ और चंचलता को रोकने के लिए है। राग तथा आसक्ति से मन चंचल होता है और वैराग्य तथा अनासक्ति से मन स्थिर होता है। जब तक मनुष्य के मन में कुछ भी पाने का राग है; संसार की कोई भी काम्य वस्तु प्राप्त करने की वृत्ति एवं लालसा है; तब तक मन स्थिर नहीं हो सकता, वह चंचल ही बना रहेगा। वैराग्य से काम्य वस्तु के प्रति लोलुपता, आसक्ति एवं तृष्णा नहीं रहती। द्रष्ट (लौकिक) आनुश्रविक (अलौकिक) विषयों के प्रति तृष्णा न होना ही तो वैराग्य है।[३३] वैराग्य से मन स्थिरता की स्थिति में पहुँच जाता है।

ज्ञानयोग : मनोरोध का एक अमोघ साधन

मनोरोध एवं मनोनिग्रह योग का प्रथम उद्देश्य है। मनोनिग्रह तथा मनोरोध मात्र कहने अथवा जानने से नहीं हो सकता। उसके लिए तो चिरकाल तक निरन्तर निष्ठापूर्वक बहु-आयामी प्रयास और अनेक उपाय करने होते हैं।

जैन-योग की दृष्टि से ज्ञान मनोरोध एवं मनोनिग्रह का श्रेष्ठ साधन है। वैदिक परम्परा की दृष्टि से भी ज्ञान को मनोनिग्रह तथा मनोनिरोध का प्रमुख उपाय माना गया है। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—राम, योग और ज्ञान मनोनिरोध के दो उपाय हैं। चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है और आत्म-स्वरूप की सच्ची अनुभूति ज्ञान है।[३४]

जैन आगम-वाङ्‌मय में इस सन्दर्भ में केशी-गौतम का एक सुन्दर संवाद है। केशी स्वामी गौतम से पूछते हैं—मन का साहसिक, चंचल और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है। गौतम! तुम उस पर सवार हो। वह तुम्हें उन्मार्ग पर क्यों नहीं ले जाता? गौतम बोले—मुनिवर! मैंने उसे ज्ञान की लगाम से वश में कर लिया है। मेरे द्वारा नियन्त्रित और वश में किया गया वह घोड़ा अब उन्मार्ग पर नहीं जाता, प्रत्युत मार्ग पर ही चलता है।[३५]

प्रस्तुत संवाद में ज्ञान को मनोनिग्रह का श्रेष्ठ उपाय बताया गया है। ज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। ज्ञान से अभिप्रेत है 'स्व' का आत्यन्तिक बोध, अपनी सत्ता का परिज्ञान, अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति। ज्ञान का अधिष्ठान शास्त्र नहीं, आत्मा है। यह आत्म-बोध ही मानव-जीवन का सार है।[३६] किन्तु यह आत्म-ज्ञान अत्यन्त कठिन है।[३७]

आत्म-ज्ञानी वह है, जिसकी आँखें 'स्व' की ओर लगी हैं। जीवन में जो महान् है, उसका स्मरण और जो क्षुद्र है, उसका विस्मरण—यही तो है अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति। वैराग्य इसी आत्म-ज्ञान का फल है।[३८] अपने अस्तित्व के प्रति उन्मुख तथा विषयों से विमुख होने का नाम ही उपरति (वैराग्य) है।[३९]

जब तक साधक को 'स्व' के अस्तित्व का प्रबल साक्षात्कार नहीं होता, तब तक 'पर'—बाह्य तत्त्वों के प्रति मन में आसक्ति एवं तृष्णा बनी रहती है। आत्म-परिबोध होते ही स्थिति एकदम बदल जाती है। जो आत्मज्ञानी है, वह विरक्त है और जो विरक्त है, वह आत्मज्ञानी है। ज्ञान मनुष्य के अनुरक्त मन को विरक्त कर देता है। इसीलिए मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान को अंकुश की उपमा दी गयी है।[४०] जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है।[४१] 'स्व' के प्रति अनुरक्ति और 'पर' के प्रति विरक्ति से मन में वितृष्णा आ जाती है। फलतः मन की दौड़ बन्द हो जाती है। वह चंचल नहीं रहता। तृष्णा ही मन को दौड़ाती है, चंचल बनाती है। वितृष्णा से मन स्थिर एवं शांत हो जाता है।

ध्यानयोग : मनोरोध का प्रबलतम कारण

मनोरोध योग का एक विशिष्ट अंग है। जब तक मन का निरोध नहीं होता, तब तक साधक को आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। ध्यान मनोरोध का प्रबलतम एवं उत्कृष्टतम साधन है।

ध्यान-साधना की अन्तर्यात्रा पर चलने वाले साधक को जब अन्तर् से अलोक मिलता है, तभी ध्यान का आविर्भाव होता है। ध्यान का जन्म ज्ञान से होता है। ध्यान का अभिप्राय है—साधक का चिन्तन को छोड़कर चेतना में प्रतिष्ठित होना। चिन्तन 'पर' है और चेतना 'स्व' है। चिन्तन से निवृत्त होकर चेतना में स्थिर होना ही समस्त साधनाओं का प्रमुख ध्येय है।

जिससे चिन्तन किया जाय, वह मन है।[४२] मनुष्य के मन का चिन्तन अनेक विषयों की ओर चलता है। मन के चिन्तन का प्रवाह बहुमुखी है। इस बहुमुखी चिन्तन के कारण ही मनुष्य का मन एकरूप नहीं रह पाता। वह अनेक रूप धारण कर लेता है। इसीलिए तीर्थंकर महावीर ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले कहा था : मनुष्य अनेकचित्त है।[४३] वह एकचित्त नहीं है। उसके भीतर बहुत चित्त हैं। और, जिसके भीतर बहुत चित्त हैं, वह कभी स्थिर एवं शांत नहीं हो सकता। एक चित्त कुछ कहता है तो दूसरा चित्त कुछ और चाहता है और तीसरा चित्त कुछ और ही कल्पना करता है। अनेकचित्तता का अर्थ है कि मनुष्य के मन में वृत्तियों, विचारों, कामनाओं, वासनाओं, कल्पनाओं और स्मृतियों का एक बहुत बड़ा जमघट है। इसलिए मनुष्य का मन खण्ड-खण्ड तथा बिखरा-बिखरा रहता है। इस अनेकचित्तता के कारण ही मनुष्य का मन चंचल, अस्थिर, अशांत एवं व्यग्र रहता है। अनेकचित्तता मन को चंचल करती है—अस्थिरता की ओर ले जाती है।

ध्यान मनुष्य को एकचित्त बनाता है। ध्यान का अर्थ है एकचित्तता। अनेकचित्तता के कारण ही मन के चिन्तन का प्रवाह बहुमुखी होता है। ध्यान मन के इस बहुमुखी चिन्तन को एकमुखी करता है। ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तनधारा को एक दिशा की ओर मोड़ देता है। मन के चिन्तन को एक आलम्बन पर केन्द्रित करना ध्यान है।[४४] मन के चिन्तन का एक ही वस्तु पर अवस्थान या ठहराव ध्यान कहलाता है।[४५] एक ही ध्येय में एकतानता—चित्तवृत्ति का एकरूप तथा एकरस बने रहना ध्यान का स्वरूप है।[४६] एक विषय पर मन की अवस्थिति एवं एकाग्रता ही समाधि है।[४७] मन के इस एकाग्र-सन्निवेशन से निरोध फलित होता है।[४८]

वस्तुतः ध्यान की साधना मन को धीरे-धीरे वृत्तियों और विषयों से शून्य एवं रिक्त करने की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। ज्यों-ज्यों साधक एक आलंबन पर चित्त-वृत्ति को स्थिर करने के लिए ध्यान का अभ्यास करता है, त्यों-त्यों मन के पटल से अन्य वृत्तियाँ विसर्जित होने लगती हैं। मनोरोध के लिए मन का वृत्तियों और विषयों से मुक्त एवं रिक्त होना आवश्यक ही नहीं, अत्यन्त अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। मन को वृत्तियों और विषयों से शून्य करना ध्यान-साधना का चरम बिन्दु है। निर्विषय मन ध्यान की परम स्थिति है।[४९] वृत्ति-शून्य होने पर मन का निरोध हो जाता है।

मनोरोध की फलश्रुति : आत्मस्वरूप की उपलब्धि

आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही योग का चरम लक्ष्य है। मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ ही बाह्य जगत की वस्तुओं को ग्रहण करने वाली और उनमें लिप्त होने वाली होती हैं। योग-साधना से ज्यों-ज्यों मन की वृत्तियाँ बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती हैं और क्रमशः उनका निरोध होता है, त्यों-त्यों मनुष्य बाहर से सिमट कर अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होने लगता है और धीरे-धीरे वह आत्म-स्वरूप के निकट—निकटतर पहुँचता जाता है। वृत्ति-शून्य मन ब्रह्माकारता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, यही असंप्रज्ञात समाधि है।[५०]

योग-दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने समाधि को ही योग कहा है। समाधि की अवस्था में पहुँचकर ही चित्त-वृत्तियों के पूर्णतः निरोध और परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति प्राप्त हो सकती है। वृत्ति-शून्य एवं स्थिर मन में आत्मस्वरूप को आवृत करने की क्षमता ही नहीं रह जाती। स्थिर तथा निर्मल मनरूपी जल में आत्म-दर्शन होता है।[५१] वृत्तियों के निवृत्त होने पर उपराग शांत हो जाता है और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[५२] चित्त के वृत्ति-शून्य होते ही आत्मा स्वयं प्रकाशित हो उठती है।[५३] चित्त-वृत्ति का निरोध होने पर द्रष्टा—आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[५४] योग के अभ्यास से वश में किया हुआ चित्त जब आत्मा में स्थित हो जाता है, तभी वह सब कामनाओं से निःस्पृह पुरुष योगयुक्त ध्यानयोगी कहलाता है।[५५] जीवन की यह वह सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ पहुँचकर, योग के अभ्यास द्वारा, चित्त निरुद्ध और उपराम को पा लेता है और जहाँ आत्मा के द्वारा ही आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप आत्मा को पहचानकर अपने आप में सन्तुष्ट रहता है।[५६] योग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करना परम धर्म है।[५७]

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ चित्तन्तरो अयं भिक्खवे मच्चो ।—अंगुत्तर निकाय, १०/२१/६ ।
२ मनसि शेते मनुष्यः ।—उत्तराध्ययन चूर्णि, ३ ।
३ मननात् मनुष्यः ।
४ मत्वा कार्याणि सीव्यन्तीति मनुष्याः—यास्क मुनि, निरुक्त ।
५ मनो वै ब्रह्मा—गो. ब्रा. ३/५/४ ।
६ चित्तमेव नरोनाऽन्यद् ।—योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, ४/२० ।
७ मन ही भीतर रच रहा, भांत-भांत के रूप ।
जैसा मन का रंग है, वैसा बाह्य स्वरूप ॥—संत कबीर
८ तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।—उपनिषद्
९ न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।—महर्षि व्यास
१० मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।—मैत्रायणी आरण्यक, ६/३४-३ ।
११ मनसा मुक्ते:पन्था उपलभ्यते ।—यजुर्वेदीय उव्वट-भाष्य ।
१२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—योग-सूत्र, १/१ ।
१३ खणमेत्तसोक्खा, बहुकालदुक्खा ।—उत्तराध्ययन, १६ ।
१४ चेतोमहानदी उभयतोवाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय च । —योग-सूत्र, व्यास-भाष्य ।
१५ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।—योग-सूत्र, २/२६ ।
१६ अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एव श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥—हरिभद्र, योगबिन्दु, ३१ ।
१७ अथ त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । —महर्षि कपिल, सांख्यसूत्र, १ ।
१८ मनसा मुक्ते:पन्था उपलभ्यते । —यजुर्वेदीय उव्वट-भाष्य
१९ एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥—उत्तराध्ययन, १९/२४ ।
२० संसारोत्तरणेयुक्तिर्योगशब्देन कथ्यते । —योगवासिष्ठ, ६-१/३३/३ ।
२१ योगः सर्वविपद्वल्लीविताने परशुः शितः । —आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, १/५ ।
२२ विद्याद दुःख संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् । —गीता, ६/२३ ।
२३ संसारस्योस्य दुःखस्य, सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति, मनसः स्वस्यनिग्रहः ॥ —योगवासिष्ठ, ४/३५/२ ।
२४ मनोविलयमात्रेण, दुःखशान्तिरवाप्यते । —योगवासिष्ठ, ६/११२/६ ।
२५ (क) यथा दीपोनिवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । —गीता, ६/१६ ।
(ख) तहरायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई । —भावपाहुड, १२३ ।
२६ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —पातंजल योग-सूत्र, १/२ ।
२७ अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।—योग-सूत्र १/१२ ।
२८ चेतो महानदी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।—व्यास-भाष्य, योग-सूत्र १/१२ ।
२९ यथा यथा सदभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां, स्थिरता च तथा-तथा ॥—अज्ञात
३० तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । —पातंजल योग-सूत्र, १ ।
३१ पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते । —योगवासिष्ठ, ६-२/६७/४३ ।
३२ (क) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः । —योग-सूत्र, १/१४ ।
(ख) "स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।" —गीता, ६/२३ ।
३३ दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णष्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ।—योगवासिष्ठ, १/१५/७ ।
३४ द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय, योगो ज्ञानं च राघव !
योगाच्चित्तवृत्तिनिरोधो हि, ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् । —योग वासिष्ठ ५/७८/८ ।

३५ अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ । जंसि गोयममारूढो, कह तेण न हीरसि ।
पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं । न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥
—उत्तराध्ययन, २३/५५-५६ ।

३६ नाणं नरस्स सारं ।
३७ दुक्खेन नज्जइ अप्पा ।
३८ ज्ञानस्य फलं विरतिः ।
३९ विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा । —शंकराचार्य, अपरोक्षानुभूति ७/२ ।
४० णाणं अंकुसभूदं मदोन्मत्तस्स हत्थिस्स ।
४१ जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी । —तीर्थंकर महावीर, आचारांग, १/२/६ ।
४२ चिंतिज्जइ जेण तं चित्तं । —नन्दी-चूर्णि, २/१३ ।
४३ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे । —आचारांग, १/३/२ ।
४४ एकाग्र चिन्तानिरोधोध्यानम् ।—उमास्वाति, तत्त्वार्थ-सूत्र, ९/२६ ।
४५ चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि, छउमत्थाणं झाणं । —ध्यानशतक, गाथा ३ ।
४६ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । —पातंजल योग-सूत्र, ३/२ ।
४७ तत्रैकग्गता समाधि । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन ।
४८ एगग्गसंन्निवेसेण निरोहं जणयइ ।—उत्तराध्ययन, २९/२७ ।
४९ ध्यानं निर्विषयं मनः । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन, ६/२५ ।
५० मनसोवृत्तिशून्यस्य, ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
साऽसम्प्रज्ञात नामासौ, समाधिरित्यभिधीयते ।। —अज्ञात
५१ मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहा विमले । —तत्त्वसार २४६ ।
५२ तन्निवृत्तावुपशान्तरागः स्वस्थः । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन, ६/२५ ।
५३ सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ । —आराधनासार, ७४ ।
५४ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।—पातंजल योग-सूत्र, १/३ ।
५५ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो, योगयुक्त स उच्यते ।। —गीता, ६ ।
५६ यत्रोपरमते चित्तं, निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं, पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। —गीता, ६/२० ।
५७ अयं तु परमोधर्मो, यद्योगेनात्मदर्शनम् । —महर्षि मनु

★★★

णाणमयविमलसीय सलिलं पाऊण भविय भावेण ।
बाहिजरमरणवेयणडाह विमुक्का सिवा होंति ॥

ज्ञान रूपी विमल, शीतल जल को सम्यक्त्व भाव से पीने से व्याधि, जरा, मृत्यु, वेदना आदि मिट जाते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।